

आत्मा के कर्तृत्वपने से हानि समयदेशना के परिप्रेक्ष्य में

लेखक:

डॉ. आशीष जैन आचार्य 'शाहगढ़'

(राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त)

महामंत्री, प्राकृत भाषा विकास फाउण्डेशन, सागर (म.प्र.)

1. प्रस्तावना एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा में आत्मा का सहज शुद्ध स्वरूप परमपारिणामिक, त्रैकालिक, अनन्तगुणात्मक और ध्रुव ज्ञायकभावमय स्वीकार किया गया है। परमपूज्य आचार्यप्रवर श्री कुंदकुंद स्वामी रचित 'समयसार' एवं पूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज द्वारा उपदिष्ट 'समयदेशना' (भाग-13) में किए गए गंभीर दार्शनिक विवेचन के अनुसार, चेतन आत्मद्रव्य अपने आप में सर्वथा पूर्ण, स्वाधीन और 'अ-उत्पन्न स्वरूप' (अजन्य एवं अकारण) वाला है। वस्तुव्यवस्था का यह शाश्वत एवं निरपेक्ष नियम है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणामन केवल अपने ही स्व-चतुष्टय (स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल, स्व-भाव) की मर्यादा में संपादित होता है। कोई भी एक द्रव्य किसी अन्य द्वितीय द्रव्य के परिणामन का उपादान या वास्तविक कर्ता कदापि नहीं हो सकता। चैतन्य का परिणामन सदैव चैतन्य रूप ही होता है और अचेतन पुद्गल का परिणामन अचेतन रूप ही। चेतन न तो अचेतन रूप परिणाम सकता है और अचेतन में चेतन रूप परिणामने की सामर्थ्य है।

तथापि अनादिकालीन अज्ञान और मोह के वश होकर यह संसारी जीव वस्तु की इस स्वतंत्र परिणामन-धारा को न पहचानकर, अपने विभाव भावों (राग-द्वेष, मोह) तथा परद्रव्यों में 'मैं' इनका कर्ता हूँ अथवा 'परद्रव्य/कर्म मेरे कर्ता हैं' - ऐसी भ्रामक कर्तृत्व-बुद्धि उत्पन्न कर लेता है। यह भ्रामक कर्तापन जीव की निज स्वाधीनता का परम घातक है। समयदेशना में इस भ्रम का सूक्ष्म उद्घाटन करते हुए स्पष्ट किया गया है कि अज्ञानी जीव जब दूध और पानी के मिश्रण की भाँति संसारी अवस्था में 'मिश्रधारा में अद्वैत' (मिश्रित अवस्था में दो भिन्न द्रव्यों को सर्वथा एक मान लेना) का भ्रम पाल लेता है, तब वह अपनी शुद्ध आत्मसत्ता से च्युत हो जाता है।

ज्ञान-मीमांसीय दृष्टि से आत्मा कोई चक्षु-इंद्रिय द्वारा 'दृष्टिगोचर' होने वाला स्थूल पदार्थ नहीं है, अपितु वह स्व-संवेदन द्वारा 'अनुभवगोचर' सूक्ष्म परम-चैतन्य तत्त्व है। अज्ञान दशा में जीव अपने उपादान सामर्थ्य को भूलकर पर-परिणामन में अपनी सर्वोपरिता स्थापित करने का मिथ्या

अहंकार करता है। जैसे कुंभकार-घट के न्याय में घट रूप केवल मिट्टी ही परिणत होती है, कुंभकार नहीं; कुंभकार घट का मात्र बहिरंग निमित्त है। यदि कुंभकार को घट का उपादान कर्ता माना जाए तो चेतन कुंभकार को अचेतन और अचेतन घट को चेतन होना पड़ेगा। इसी प्रकार, आत्मा का अपने भावों में परिणमन ही वास्तविक 'आत्मभूत कर्तृत्व' है, परद्रव्यों का कर्ता बनना जीव का भ्रम मात्र है।

जब तक यह जीव परद्रव्य और विभावों से तटस्थ होकर अपने अ-उत्पन्न, ध्रुव पारिणामिक स्वरूप का आश्रय नहीं लेता, तब तक उसकी दृष्टि परोन्मुखी बनी रहती है और वह अनादि संसार-चक्र में परिभ्रमण करने के लिए बाध्य रहता है।

2. कर्तृत्व-बुद्धि, मिथ्यात्व और संसार-परिभ्रमण

'समयदेशना' (भाग-13) के अंतर्गत आचार्यश्री ने समयसार की गाथा 128 से 131 की विषय व्याख्या करते हुए अज्ञान/मिथ्यात्व और कर्तृत्व-बुद्धि के अकाट्य दार्शनिक संबंधों तथा उससे उत्पन्न होने वाले गंभीर प्रसंग-दोषों को निरूपित किया है। यदि जीव अपने अंदर उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि भावकर्मों का कर्ता स्वयं को न मानकर अचेतन कर्म-प्रकृति (पुद्गल) या ईश्वर को मानता है, अथवा स्वयं को पर का कर्ता स्वीकार करता है, तो जैन न्याय के अनुसार निम्नलिखित दार्शनिक दूषण उपस्थित होते हैं:-

1. चेतन में अचेतनता का दूषण (गाथा 128): यदि अचेतन पुद्गल की 'मिथ्यात्व' नामक प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाती है, तो अचेतन कर्म-प्रकृति ही वास्तविक कर्ता सिद्ध होगी। ऐसी स्थिति में चेतन आत्मा सर्वथा अकर्ता होकर निर्दोष रह जाएगी और अचेतन पुद्गल में चेतनता (कर्तापन) का तथा चेतन आत्मा में अचेतनता का अतिप्रसंग दोष आएगा।
2. पुद्गल के मिथ्यादृष्टि होने का दोष (गाथा 129): इसके विपरीत, यदि यह माना जाए कि जीव पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व को करता है, तो 'पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिः न पुनर्जीवः' - अर्थात् पुद्गल द्रव्य स्वयं मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा, आत्मा नहीं! क्योंकि जो जिसके परिणमन को करता है, वह तद्रूप हो जाता है।
3. द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि का दूषण (गाथा 130): यदि कोई यह कुतर्क प्रस्तुत करे कि जीव और पुद्गलकर्म दोनों मिलकर मिथ्यात्व रूप भावकर्म को उत्पन्न करते हैं, तो वह सिद्धांततः 'द्विक्रियावादी' सिद्ध होता है। एक ही कार्य के दो स्वतंत्र उपादान कर्ता नहीं हो सकते। यदि दोनों को कर्ता माना जाएगा, तो उस कर्मफल का भोक्ता भी दोनों (जीव एवं अचेतन पुद्गल) को बनना पड़ेगा, जो कि प्रत्यक्ष बाधित है।

4. **ईश्वरवाद का खंडन:** यदि ईश्वर को जीव के पाप-पुण्य और भावों का कर्ता माना जाए, तो जीव स्वेच्छाचारी हो जाएगा, उसके पुरुषार्थ का लोप हो जाएगा और स्वयं ईश्वर को कर्मफल का भोक्ता एवं विकारी बनना पड़ेगा।

अतः स्वाधीन जैन सिद्धांत यह दृढ़ता से स्थापित करता है कि अपने अज्ञानमय भावकर्मों का उपादान कर्ता अज्ञानी जीव स्वयं ही है; पौद्गलिक द्रव्यकर्म तो उसमें केवल बहिरंग निमित्तमात्र हैं।

कर्तृत्व-संबंधी भ्रांति / एकांत मत	आगमिक एवं दार्शनिक परिणाम
पर को कर्ता मानना (ईश्वरवाद / द्रव्यकर्मकृत एकांत): यह मानना कि ईश्वर या अचेतन द्रव्यकर्म-प्रकृति ही जीव को मिथ्यादृष्टि बनाती है तथा पाप-पुण्य कराती है।	जीव सर्वथा अकर्ता एवं पुरुषार्थहीन होकर स्वेच्छाचारी हो जाता है। अचेतन में चेतनता और चेतन में अचेतनता का प्रसंग आता है। कर्तृत्व का दोष पर पर मढ़ने से मिथ्यात्व, राग-द्वेष और अनंत संसार-परिभ्रमण की निरंतरता बनी रहती है।
सर्वथा अकर्ता मानना (सांख्यमत / निश्चयाभास): पर्याय में भी आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानकर राग-द्वेष व भावकर्मों के दायित्व से स्वतः को मुक्त मान लेना।	जीव अपने विकारों के परिमार्जन हेतु पुरुषार्थ नहीं करता। संसार, बंध और मोक्ष की सम्पूर्ण व्यवस्था का ही लोप हो जाता है। आत्मा अकर्ता होने से अभोक्ता सिद्ध होगी, जिससे प्रत्यक्ष कर्मफल-भोग का विरोध उत्पन्न होगा।
द्विक्रियावाद (उभय-कर्तृत्व का भ्रम): यह मानना कि जीव और पुद्गलकर्म दोनों मिलकर एक भावकर्म (मिथ्यात्व) की निष्पत्ति करते हैं।	एक कार्य के दो कर्ता मानने का अतिप्रसंग दोष आता है। अचेतन पुद्गल में भी भोक्तापने का प्रसंग आता है तथा जीव अद्वैत स्व-सत्ता से च्युत होकर 'द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि' बन जाता है।

3. कर्ता-अकर्ता का नय-विभाग (निश्चय एवं व्यवहार नय की विवक्षा)

स्याद्वाद न्याय में वस्तु के अनेकांतात्मक स्वरूप का यथार्थ निर्णय नय-विभाग के बिना असम्भव है। आत्मा कर्ता है अथवा अकर्ता, इसका समाधान निश्चय और व्यवहार नय की सूक्ष्म विवक्षा तथा 'व्याप्य-व्यापक भाव' के आधार पर किया जाता है:-

निश्चय नय विवक्षा

- **परद्रव्य का सर्वथा अकर्ता:** शुद्ध निश्चयनय से आत्मा परद्रव्यों, पौद्गलिक द्रव्यकर्मों (ज्ञानावरणादि) तथा नोकर्मों (शरीर, मकान आदि) का सर्वथा अकर्ता है, क्योंकि चेतन और अचेतन में 'अतादात्म्य व्याप्य-व्यापक संबंध' (केवल संयोगी/निमित्त संबंध) होता है।

- **भावकर्म का उपादान कर्ता:** अशुद्ध निश्चयनय से (उपादान दृष्टि से) अज्ञानी जीव अपने राग-द्वेष, मोह तथा अज्ञान रूप विकार भावों का स्वयं ही कर्ता एवं भोक्ता है। आत्मा और उसके परिणामों के मध्य 'तादात्म्य व्याप्य-व्यापक संबंध' (अभिन्न तादात्म्य) होता है। अपने विकारों का परिणामन 'आत्मभूत कर्तृत्व' के अंतर्गत जीव का ही परिणामन है।

व्यवहार नय विवक्षा:-

- **पौद्गलिक कर्मों का सौपाधिक कर्ता:-** व्यवहार नय से (निमित्त-नैमित्तिक विवक्षा से) जीव को ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों को परिणमाने वाला या उनका 'कर्ता' कहा जाता है। यह कथन उपचारित (निमित्त-सापेक्ष) है, क्योंकि जीव के भावकर्मों का निमित्त पाकर ही कर्मण वर्गणाएँ स्वतः द्रव्यकर्म रूप परिणत होती हैं।

दृष्टांत एवं न्याय-युक्ति द्वारा स्पष्टीकरण

- **अग्नि, खीर और माँ का दृष्टांत (पृ. 220):-** खीर के निर्माण में न अग्नि उपादान कर्ता है, न बटलोई और न ही माँ का अहंकार। चावल और दूध अपने स्व-चतुष्टय में अपनी उपादान योग्यता से खीर रूप परिणत होते हैं; अग्नि व माँ तो मात्र बहिरंग निमित्त हैं। इसी प्रकार जीव अपने भावों का उपादान कर्ता है, कर्म-प्रकृति मात्र निमित्त है।
- **रहट एवं मेंढक का दृष्टांत (पृ. 201):-** कुएँ से जल रहट के घूमने और खींचने वाले के पुरुषार्थ से बाहर आता है, किंतु रहट की घड़घड़ाहट या तालाब के किनारे मेंढक का टराना यह भ्रम पैदा करता है कि मेरे बोलने से मेघ बरस रहे हैं/जल आ रहा है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव सोचता है कि पर का परिणामन उसकी इच्छा या कर्तृत्व से हो रहा है, जो कि सर्वथा भ्रामक 'अनात्मभूत कर्तृत्व' है।

एकांत पक्षों का खंडन-

- **सांख्यमत / निश्चयाभास का दोष:**
 - यदि आत्मा को पर्याय में भी सर्वथा अकर्ता मान लिया जाए, तो जीव अपने राग-द्वेष और कषाय रूप भावकर्मों के दायित्व से मुक्त हो जाएगा।
 - इसके फलस्वरूप जब जीव विकारों का कर्ता ही नहीं होगा, तो कर्मबंध भी नहीं होगा; और बंध के अभाव में संसार तथा मोक्ष मार्ग (संसार-अभाव एवं मोक्ष-अभाव) का सार्वभौमिक लोप हो जाएगा।

• **ईश्वरवाद / व्यवहाराभास का दोष:-**

- यदि परद्रव्य या ईश्वर को जीव के परिणामन का कर्ता माना जाए, तो कार्य-कारण व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी।
- जीव सब कुछ ईश्वर या कर्म करा रहे हैं, मैं तो शुद्ध हूँ - ऐसा मानकर घोर पाप प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होकर अत्यंत स्वच्छंद और अनाचारी हो जाएगा।

4. कर्तृत्व-भाव (भ्रामक कर्तापन) से होने वाली हानियाँ -

समयदेशना में पूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज ने भ्रामक कर्तृत्व-बुद्धि (स्वयं को पर का कर्ता मानना या निज विकारों को 'कर्मकृत/ईश्वरकृत' कहकर स्वयं को सर्वथा अकर्ता मानना) से होने वाली प्रमुख आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक हानियों का अत्यंत ओजस्वी विश्लेषण किया है:-

1. **अध्यात्म एवं मोक्ष मार्ग से विचलन:** जब जीव अज्ञानवश स्वयं को सर्वथा अकर्ता मानकर अपने राग-द्वेष और पाप परिणामों का दोष द्रव्यकर्म, ईश्वर या परिस्थितियों पर मढ़ देता है, तो वह आत्म-पुरुषार्थ से सर्वथा विमुख हो जाता है। कर्म करा रहे हैं, पर्याय का दोष है, मैं तो त्रैकालिक शुद्ध हूँ - ऐसी कल्पित मान्यता से वह अंतर्मुखी पुरुषार्थ (स्व-समय में लीनता) नहीं करता, जिससे वह वास्तविक मोक्ष मार्ग से च्युत होकर निरंतर संसार-बंध में पड़ा रहता है।
2. **व्यवहार व आचार का लोप तथा 'सहज' शब्द के दुरुपयोग से स्वच्छंदता:-** समयदेशना का एक अत्यंत मार्मिक चेतावनी बिंदु यह है कि अज्ञानी जीव कषायों, विषयभोगों, व्यभिचार, असंयम और परिग्रह-संचय में लिप्त रहकर उसे सहज परिणामन या कर्मकृत कहकर स्वयं को निष्पाप मानने का गंभीर छल करता है। आचार्य श्री चेताते हैं कि काषायिक और अब्रह्म भावों में सहजता खोजना अज्ञान है; वे सहज नहीं, अपितु 'विभावभूत' और 'कर्मसापेक्ष' हैं। इस भ्रामक कर्तृत्व/अकर्तृत्व बुद्धि से महाव्रत, अणुव्रत, पंचसमिति और संयमरूप आचार का लोप हो जाता है तथा जीव अत्यंत स्वच्छंदी हो जाता है।
3. **सम्यक्त्व की विराधना एवं सिद्धान्तों का लोप:-** पर-कर्तृत्व या एकांत-अकर्तृत्व को अंगीकार करने से जैन दर्शन के प्राण-भूत सिद्धान्तों—स्याद्वाद, अनेकांत, उपादान-निमित्त व्यवस्था और गुणस्थान-क्रम—की विराधना होती है। जीव सम्यग्दर्शन से सर्वथा वंचित हो जाता है। आचार्य कुंदकुंद देव ने 'दर्शन पाहुड़' में स्पष्ट उद्घोषित किया है:-

दंसणभट्टो भट्टो दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।

सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति॥

अर्थात्: जो सम्यग्दर्शन (यथार्थ तत्त्व-श्रद्धान) से भ्रष्ट है, वह सर्व-भ्रष्ट है; दर्शनभ्रष्ट जीव को किसी भी काल में निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। चरित्र से भ्रष्ट हुआ जीव तो पुनः संयम धारण कर सिद्ध पद प्राप्त कर सकता है, किंतु दर्शनभ्रष्ट जीव कभी सिद्ध नहीं हो सकता। भ्रामक कर्तृत्व-बुद्धि सम्यक्त्व का घात करके जीव को अनंतानंत संसार-चक्र में धकेल देती है।

5. समयदेशना के परिप्रेक्ष्य में समाधान, स्वात्मानुभूति एवं निष्कर्ष

कर्तृत्व के अज्ञानजनित भ्रम को मिटाकर परम पद (मोक्ष) की प्राप्ति हेतु 'समयदेशना' में आगम-सम्मत और न्याय-निष्ठ समाधान प्रस्तुत किया गया है:-

- ज्ञाता-द्रष्टा भाव एवं तटस्थता: जीव को समस्त परद्रव्यों, इंद्रिय-विषयों और शुभाशुभ पर्यायों के प्रति स्वामित्व एवं कर्तृत्व बुद्धि छोड़कर मात्र मध्यस्थ रहना चाहिए। 'ज्ञातादृष्टामेकोऽहम्' (मैं एक मात्र ज्ञाता-द्रष्टा हूँ) तथा 'सुखे-दुःखे चापरा' (सुख और दुःख दोनों में तटस्थ रहकर मात्र जानना-देखना) के अनवरत चिंतन द्वारा ही पर-कर्तृत्व का ज्वर शांत होता है।
- त्रिधा-चिंतन धारा (अ-उत्पन्न, भावातीत एवं भावस्वरूप): स्वात्मानुभूति हेतु साधक को तीन तात्त्विक सूत्रों को अपने जीवन में उतारना होगा:-
 1. 'अ-उत्पन्न स्वरूपोऽहम्':- मैं किसी से उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, न किसी को उत्पन्न करता हूँ। मैं ध्रुव, अकारण, पारिणामिक परमभाव वाला हूँ।
 2. 'भावातीतोऽहम्':- मैं औदयिक, क्षायोपशमिक आदि सभी नैमित्तिक भावों, संकल्प-विकल्पों और पर्याय-प्राधान्य दृष्टियों से अतीत हूँ।
 3. 'भावस्वरूपोऽहम्':- मैं मात्र अपने सहज चैतन्य-भाव स्वरूप ही हूँ।
- आगम-प्रमाणबद्ध साधना सूत्र:- आचार्यश्री अमृतचंद्रकृत 'समयसार' के कलश 69 को स्वात्मानुभूति का सर्वोत्कृष्ट मार्ग बतलाया गया है:-

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं।

विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥

अर्थात् जो जीव समस्त नय-पक्षपातों (निश्चय-व्यवहार के एकांत विकल्पों) को छोड़कर, विकल्प-जाल से रहित शांत चित्त होकर नित्य अपने स्वरूप में गुप्त (लीन) रहते हैं, वे ही साक्षात् आत्मा-मृत का पान करते हैं।

इसी प्रकार, ध्यान की निश्चल अवस्था हेतु द्रव्यसंग्रह की गाथा उद्धृत है:-

मा चिद्रुह मा जंपह, मा चिंतह किंचि जेण होइ थिरो।

अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ॥

निष्कर्ष: 'समयदेशना' का संपूर्ण दार्शनिक मर्म यही है कि जब तक जीव परद्रव्य में या अपने विभावों में भ्रामक कर्तृत्व-बुद्धि रखता है, तब तक वह संसारी है। जैसे ही वह नय-विभागपूर्वक यह यथार्थ निर्णय करता है कि मैं परद्रव्य का सर्वथा अकर्ता हूँ और अपने चेतन भावों का ही उपादान कर्ता हूँ, त्यों ही पर-निमित्तों पर दोष मढ़ने की अज्ञान चेष्टा समाप्त हो जाती है। परद्रव्य और विभावों से अकर्तृत्व दृष्टि धारण करके, नय-पक्षपात से रहित होकर अपनी अंतरंग शुद्ध चैतन्य धातु का आश्रय लेने से ही स्वात्मानुभूति का प्राकट्य होता है और जीव वास्तविक आत्यंतिक मुक्ति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।